IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

19वीं और 20वीं सदी के भारत में किसान आंदोलनो का इतिहास: एक पुनरावलोकन

सत्यनारायण सिंह[*1]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सार

समय के साथ निरंतर हो रहे विकास और उस विकास में निरंतर सहभागिता कर आगे बढ़ने के पश्चात आज भी भारत एक कृषि प्रधान देश है। आज भी कृषि और कृषि संबंधी गतिविधियां भारतीय समाज, संस्कृति और अर्थव्यवस्था सभी के लिए मेरुदंड का काम करता है। कृषि की यह महत्ता निश्चित तौर पर किसानों को भारतीय संस्कृति के निर्माण का एक प्रमुख स्तम्भ बनाती है। भारत में किसानों का इतिहास ही राष्ट्र निर्माण की दिशा तय करता रहा है। विशेषकर के मध्यकालीन भारत से शुरू होकर अंग्रेजों के शासन से हुए आज तक भी, किसानों का इतिहास हमेशा एक विश्लेषण का विषय रहा है। मध्यकालीन (इस्लामिक आक्रमण से शुरू) से ही किसानों की स्थिति में कई बार ऐसी स्थिति देखने को मिलती है जहां उसे एक आदर्श स्थिति नहीं कहा जा सकता। लेकिन अंग्रेजी शासन के दौरान किसानों की स्थिति निश्चित तौर पर बदतर हो गई थी। अंग्रेजों की विभिन्न नीतियों के कारण किसान, विशेषकर लघु एवं सीमांत किसानों की निरंतर दुर्दशा की स्थिति बनी रही। इन्ही कारणों से भारतीय किसानों को आंदोलनों का सहारा लेना पड़ा। इन किसान आंदोलनों नें न केवल उनकी दिशा और दश के निर्धारण का कार्य किया अपितु राष्ट्रीय राजनीति की भी दिशा का निर्धारण किया। अतः इन आंदोलनों के महत्व को देखते हुए यह शोधपत्र 19वीं और 20वीं सदी के भारत में हुए किसान आंदोलनों को ऐतिहासित दृष्टि से पुनरवालोकित करने का प्रयास कर रहा है जिससे उन आंदोलनों के महत्व को समझा जा सके।

संकेत शब्द: कृषि, किसान, आंदोलन, किसान आंदोलन, आधुनिक भारत, भारतीय राष्ट्र।

भूमिका:

19वीं और 20वीं सदी का भारत राजनीतिक अस्थिरता, सामाजिक विषमता और आर्थिक शोषण का ऐसा कालखंड था जिसमें किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार हुई। कृषि, जो भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ थी, उस पर औपनिवेशिक शक्तियों ने कठोर नीतियों और करों के माध्यम से नियंत्रण कर लिया। परिणामस्वरूप, किसानों के जीवन में असुरक्षा,

[*1] सत्यनारायण सिंह, शोध छात्र, सामाजिक समावेशन केंद्र, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

निर्धनता और असंतोष ने जन्म लिया। इन परिस्थितियों ने भारत में विभिन्न किसान आंदोलनों की शुरुआत को प्रेरित किया, जो स्थानीय विद्रोह से लेकर संगठित राजनीतिक संघर्षों तक फैले हुए थे।

किसानों की दशा पर सबसे गहरा प्रभाव ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की ज़मींदारी, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी प्रणाली ने डाला। इन व्यवस्थाओं ने न केवल उत्पादन के संसाधनों पर नियंत्रण रखा, बल्कि किसानों को कठोर करों, जबरन वसूली, और प्राकृतिक आपदाओं के प्रति असहाय बना दिया। नीलहे किसानों का विद्रोह (1859-60), देccan riots (1875), चंपारण (1917), खेड़ा (1918), और बारदोली (1928) जैसे आंदोलन इसी असंतोष की अभिव्यक्ति थे, जो विभिन्न कालखंडों में किसानों की सामूहिक प्रतिक्रिया के रूप में सामने आए (Desai, 1979; Guha, 1983)।

इस शोध पत्र का उद्देश्य 19वीं और 20वीं सदी के किसान आंदोलनों का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है, जिससे यह समझा जा सके कि इन आंदोलनों की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी, उनकी प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की थीं, और उनके प्रभाव भारतीय समाज और राजनीति पर किस तरह पड़े। यह अध्ययन किसान संघर्षों की प्रकृति, नेतृत्व, विचारधारा, व्यापकता, और परिणामों के मध्य अंतःसंबंधों को स्पष्ट करने का प्रयास करेगा।

इसके अतिरिक्त, यह शोध आधुनिक भारत के किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक जड़ों को समझने में भी सहायता करेगा, विशेषकर जब हम देखते हैं कि वर्तमान में भी कृषि क्षेत्र में असंतोष और आंदोलन की प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार 19वीं सदी के प्रतिक्रियात्मक और असंगठित विद्रोह, 20वीं सदी में एक संगठित, वैचारिक और राष्ट्रीय आंदोलन में परिवर्तित हुए, जिसका नेतृत्व गांधी, नेहरू, पटेल, और कम्युनिस्ट नेताओं द्वारा किया गया (Shah, 2004; Dhanagare, 1983)।

इस शोध के प्रमुख प्रश्न निम्नलिखित हैं:

- कौन-कौन से प्रमुख किसान आंदोलन 19वीं और 20वीं सदी में हुए?
- इन आंदोलनों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि क्या थी?
- आंदोलनों की प्रवृत्तियाँ, रणनीतियाँ और विचारधारा में क्या परिवर्तन आया?
- इन आंदोलनों का भारतीय राजनीति और समाज पर क्या प्रभाव पड़ा?

इस अध्ययन की प्रासंगिकता इसलिए भी है क्योंकि यह ग्रामीण भारत की सामाजिक संरचना, वर्ग संघर्ष, और औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक शासन की नीतियों को समझने की कुंजी प्रदान करता है। साथ ही, यह शोध सामाजिक आंदोलनों के सिद्धांतों, जैसे वर्ग संघर्ष, प्रतिक्रियावाद, और सामाजिक गतिशीलता के परिप्रेक्ष्य में किसान आंदोलनों को देखने का अवसर देता है (Oommen, 1990; Scott, 1976)।

अतः, यह शोध न केवल इतिहास के पुनर्पाठ का कार्य करेगा, बल्कि समकालीन भारत की राजनीतिक-सामाजिक चुनौतियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट करेगा।

2. 19वीं सदी के किसान आंदोलन

19वीं सदी का भारत, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आर्थिक और प्रशासनिक विस्तार का युग था। इस सदी में किसानों पर कर का बोझ अत्यधिक बढ़ गया था, जबकि कृषि उत्पादन पर उनका नियंत्रण क्रमशः कम होता जा रहा था। ब्रिटिश शासन की ज़मींदारी, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था ने एक शोषणकारी ढांचा तैयार किया, जिसने किसानों को आर्थिक रूप से जकड़ दिया और असंख्य असंतोषों को जन्म दिया (Desai, 1979; Dhanagare, 1983)। इस असंतोष ने कई बड़े किसान आंदोलनों और विद्रोहों को जन्म दिया, जिनका स्वरूप प्रतिक्रियात्मक, लेकिन सामाजिक रूप से गहरे अर्थ लिए हुए था।

2.1 औपनिवेशिक शासन और कृषि व्यवस्था

ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति ने भूमि-राजस्व को अपने शासन का प्रमुख आधार बनाया। **ज़मींदारी प्रणाली**, विशेषतः बंगाल और उत्तरी भारत में, ज़मींदारों को भूमि का मालिक बनाकर किसानों को उनके अधीनस्थ करदाताओं में बदल देती थी। ये ज़मींदार मनमाने ढंग से लगान वसूलते थे, और असमर्थ होने पर किसानों की भूमि छीनी जाती थी (Guha, 1983)। **रैयतवाड़ी प्रणाली**, विशेष रूप से मद्रास और बॉम्बे प्रेसीडेंसी में लागू, किसानों को सीधे ब्रिटिश सरकार से जोड़ती थी, लेकिन इसमें भी कर दरें इतनी ऊंची थीं कि अधिकांश किसान ऋणग्रस्त और दरिद्र हो गए। **महालवाड़ी व्यवस्था**, उत्तर भारत में लागू, पूरे गांव को एक इकाई मानकर कर वसूली करती थी, जिसने सामूहिक उत्तरदायित्व के नाम पर शोषण को संस्थागत रूप दिया (Shah, 2004)।

इस व्यवस्था के तहत प्राकृतिक आपदाओं, सूखे और फसल खराबी की स्थिति में कोई छूट नहीं थी। राजस्व न भर पाने की स्थिति में किसानों की भूमि नीलाम कर दी जाती थी, जिससे उनमें व्यापक असंतोष पनपने लगा।

2.2 प्रमुख आंदोलन

2.2.1 संताल विद्रोह (1855-56)

संताल आदिवासियों का यह विद्रोह बंगाल प्रेसीडेंसी के भागलपुर और साहेबगंज जिलों में फैला। यह ज़मींदारों, महाजनों और पुलिस के त्रिस्तरीय शोषण के खिलाफ था। संतालों ने अंग्रेजी शासन को सीधी चुनौती दी और अपने "संताल परगना" की घोषणा की। यह विद्रोह दमन के साथ समाप्त हुआ, लेकिन इसने आदिवासी चेतना को जगाया (Guha, 1983)।

2.2.2 नील विद्रोह (1859-60)

नील की जबरन खेती, विशेषकर बंगाल में, किसानों के लिए त्रासदी बन गई थी। यूरोपीय नील उत्पादक किसानों को कम मूल्य पर नील उगाने के लिए बाध्य करते थे। चूंकि नील की खेती मिट्टी को बंजर बनाती थी, किसान इसे नकारते थे। चंपारण सत्याग्रह (1917) से पूर्व यह पहली बार था जब किसान संगठित होकर औपनिवेशिक व्यापारिक हितों के विरुद्ध खड़े हुए (Desai, 1979)। इस आंदोलन की परिणति इंडिगो कमीशन की स्थापना में हुई, जिसने जबरन खेती को असंवैधानिक घोषित किया।

2.2.3 दक्कन का विद्रोह (1875)

महाराष्ट्र में किसानों ने साहूकारों के खिलाफ विद्रोह किया जो अत्यधिक ब्याज दरों पर ऋण देकर भूमि पर कब्जा कर लेते थे। किसानों ने साहूकारों के रिकॉर्ड जलाए, ऋण पत्र फाड़े और सामूहिक आक्रोश प्रकट किया। यह विद्रोह अंग्रेजों को इतना भयभीत कर गया कि सरकार ने 'Deccan Agriculturists Relief Act' पारित किया (Dhanagare, 1983)। यह कानून किसानों को कुछ हद तक ऋणग्रस्तता से बचाता था, परंतु इससे शोषण की संरचना को जड़ से समाप्त नहीं किया जा सका।

2.2.4 पावनार आंदोलन और अन्य क्षेत्रीय संघर्ष

मध्य भारत और पूर्वी क्षेत्रों में भी कई स्थानीय आंदोलनों ने जन्म लिया, जो अपेक्षाकृत छोटे थे लेकिन सामाजिक चेतना के वाहक बनें। इनमें आदिवासी समूहों और भूमिहीन किसानों की भूमिका प्रमुख थी।

2.3 इन आंदोलनों की प्रकृति और सीमाएं

इन आंदोलनों की एक सामान्य विशेषता यह थी कि वे **प्रतिक्रियात्मक**, **स्थानीय**, और **असंगठित** थे। अधिकांश किसान आंदोलन तत्कालिक आर्थिक संकटों की प्रतिक्रिया थे न कि किसी दीर्घकालीन विचारधारा के आधार पर। उनमें नेतृत्व का अभाव था, और अक्सर वे जातीय अथवा क्षेत्रीय सीमाओं में बंधे रहे। फिर भी, इन आंदोलनों ने भविष्य के संगठित किसान आंदोलनों के लिए एक मनोवैज्ञानिक और सामाजिक भूमि तैयार की। इन्हीं संघर्षों से किसानों में संगठित होने, अपनी बात रखने और सत्ता के खिलाफ आवाज उठाने की चेतना विकसित हुई (Oommen, 1990; Scott, 1976)।

कुल मिलाकर, 19वीं सदी के किसान आंदोलनों को न तो पूरी तरह सफल कहा जा सकता है और न ही निष्फल। इनका सबसे बड़ा योगदान यह था कि इन्होंने किसान चेतना का बीज बोया, जो 20वीं सदी में आकार लेकर राष्ट्रीय स्तर के आंदोलनों में परिवर्तित हुआ।

3. 20वीं सदी के किसान आंदोलन

20वीं सदी में भारत के किसान आंदोलनों ने एक निर्णायक मोड़ लिया। अब ये संघर्ष केवल आर्थिक शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक विरोध तक सीमित नहीं रहे, बल्कि व्यापक राजनीतिक और वैचारिक चेतना से युक्त हो गए। जहां 19वीं सदी के किसान विद्रोह स्वाभाविक और असंगठित थे, वहीं 20वीं सदी में किसान आंदोलनों का विकास एक संगठित, विचारधारात्मक और राष्ट्रीय विमर्श के रूप में हुआ। इसमें गांधीवादी अहिंसक आंदोलनों से लेकर वामपंथी किसान संगठनों की क्रांतिकारी भूमिका तक शामिल थी (Dhanagare, 1983; Shah, 2004)।

3.1 गांधी युग और किसानों का राजनीतिकरण

महात्मा गांधी ने भारतीय किसानों की समस्याओं को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा। उन्होंने किसानों के जीवन की कठिनाइयों को समझा और उनके कष्टों को राजनीतिक एजेंडे का भाग बनाया। तीन प्रमुख सत्याग्रहों – **चंपारण (1917)**, **खेड़ा (1918)**, और **बारदोली (1928)** – ने किसानों को पहली बार अहिंसक, संगठित और कानूनी रूप से सशक्त संघर्ष की दिशा दी (Desai, 1979)।

3.1.1 चंपारण सत्याग्रह (1917)

बिहार में नील की खेती की बाध्यता और यूरोपीय नीलहों का अत्याचार गांधीजी के पहले बड़े आंदोलन का कारण बना। गांधी ने किसानों के लिए कानूनी अधिकारों की मांग की और सरकार को मजबूर किया कि वह नील की जबरन खेती को समाप्त करे (Guha, 1983)। यह भारत में सत्याग्रह की पहली प्रयोगशाला बनी।

3.1.2 खेड़ा सत्याग्रह (1918)

गुजरात के खेड़ा जिले में फसल की भारी क्षति के बावजूद कर वसूली की जिद के खिलाफ गांधी, सरदार पटेल और अन्य नेताओं ने किसानों को संगठित किया। यह आंदोलन किसानों के अधिकारों की कानूनी रक्षा के रूप में उभरा।

3.1.3 बारदोली आंदोलन (1928)

सरदार पटेल के नेतृत्व में, बारदोली के किसानों ने कर वृद्धि के विरोध में संगठित आंदोलन किया। इसने सरदार पटेल को "सरदार" की उपाधि दिलाई और दिखाया कि संगठित, अनुशासित संघर्ष प्रशासन को झुकने पर मजबूर कर सकता है (Dhanagare, 1983)।

3.2 किसान संगठनों का निर्माण और वैचारिक उन्नयन

1930 के दशक के बाद, किसान आंदोलनों में वैचारिक गहराई और संगठनात्मक मजबूती आई। किसानों को संगठित करने में वामपंथी विचारधारा और समाजवादी नेताओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

3.2.1 ऑल इंडिया किसान सभा (AIKS), 1936

AIKS की स्थापना भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सहयोग से हुई। यह पहला अखिल भारतीय मंच था जो किसानों की भूमि, ऋण, कर और मजदूरी संबंधी समस्याओं को लेकर संघर्षरत था। इसके पहले अध्यक्ष स्वामी सहजानंद सरस्वती थे, जिन्होंने किसान को "धरतीपुत्र" की संज्ञा दी और भूमि सुधार की मांग उठाई (Shah, 2004)।

3.2.2 कम्युनिस्ट आंदोलन और किसान

AIKS के माध्यम से वामपंथी नेतृत्व ने किसानों को वर्ग चेतना प्रदान की। आंदोलनों का स्वरूप अब स्थानीय विरोध के बजाय राज्य-स्तरीय और कभी-कभी राष्ट्रीय संघर्ष का रूप लेने लगा। 'भूमि जोतने वाले की' अवधारणा को प्रचारित किया गया (Oommen, 1990)।

3.3 स्वतंत्रता संग्राम के साथ एकीकरण

3.3.1 तेभागा आंदोलन (1946-47)

बंगाल में चलाया गया यह आंदोलन बंटाईदार किसानों द्वारा फसल का दो-तिहाई हिस्सा रखने की मांग के समर्थन में था। यह किसान वर्ग द्वारा जमींदार व्यवस्था के शोषण के विरुद्ध संगठित संघर्ष था। आंदोलन भले ही पूर्णतः सफल न रहा हो, लेकिन इसने भूमि सुधार के विमर्श को जन्म दिया (Guha, 1983)।

3.3.2 तेलंगाना विद्रोह (1946-51)

आंध्र प्रदेश के निजाम शासित क्षेत्र में जमींदारों और निजाम के अत्याचार के विरुद्ध यह एक संगठित किसान विद्रोह था। कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका इसमें महत्वपूर्ण रही। विद्रोह को भारतीय सेना द्वारा दबा दिया गया, लेकिन इसने स्वतंत्र भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता को रेखांकित किया।

3.3.3 यूपी और बिहार के आंदोलनों

उत्तर भारत में सहजानंद सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन और पीर मोहम्मद मुनिस जैसे नेताओं ने जातिगत सीमाओं को तोड़ते हुए किसानों को एक मंच पर लाने का प्रयास किया। **किसान मज़दूर पार्टी**, **किसान सभा**, और विभिन्न संगठनों ने 1940 के दशक में ज़मींदारी उन्मूलन की मांग को स्वर दिया (Desai, 1979; Shah, 2004)।

3.4 महिलाओं और दलितों की भागीदारी

20वीं सदी के किसान आंदोलनों में महिलाओं और दलितों की भागीदारी उल्लेखनीय रही। विशेषकर बंगाल और तेलंगाना के आंदोलनों में महिलाओं ने नेतृत्व और प्रतिरोध की भूमिका निभाई। यह वर्गीय आंदोलन अब सामाजिक न्याय के विमर्श से भी जुड़ने लगे, जिससे आंदोलनों की वैचारिक गहराई बढ़ी (Oommen, 1990)।

20वीं सदी के किसान आंदोलन सिर्फ भूमि और लगान तक सीमित नहीं थे; वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता, वर्ग चेतना, और सामाजिक न्याय से जुड़े एक गहरे राजनीतिक आंदोलन बन चुके थे। इन आंदोलनों की व्यापकता, विचारधारा, नेतृत्व और संगठनात्मक रूपरेखा ने उन्हें 19वीं सदी के आंदोलनों से भिन्न और कहीं अधिक प्रभावशाली बना दिया।

4. आंदोलनों की प्रकृति में परिवर्तन - एक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण

भारत के किसान आंदोलनों के इतिहास में 19वीं और 20वीं सदी एक स्पष्ट परिवर्तन-रेखा खींचती हैं। जबकि 19वीं सदी के आंदोलन प्रतिक्रियात्मक, स्थानीय और अनौपचारिक स्वरूप के थे, वहीं 20वीं सदी में यह आंदोलन संगठित, वैचारिक और राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावशाली बनते गए। यह परिवर्तन भारतीय समाज की राजनीतिक चेतना, संगठन निर्माण, सामाजिक समावेशन, और औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक नीतियों के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। इस खंड में हम इन परिवर्तनों का विश्लेषण सामाजिक आंदोलन सिद्धांत, वर्ग चेतना, नेतृत्व संरचना, और वैचारिक विकास के संदर्भ में करेंगे।

4.1 प्रतिक्रियात्मक से वैचारिक आंदोलन तक

19वीं सदी के किसान आंदोलन अधिकतर तत्कालीन आर्थिक संकटों की प्रतिक्रिया थे – जैसे जबरन नील की खेती, अत्यधिक लगान, या भूमि से बेदखली। इनका नेतृत्व प्रायः स्थानीय मुखियाओं या साधुओं के हाथों था, जो बिना किसी दीर्घकालीन वैचारिक रणनीति के संघर्ष में कूद पड़े। इसके विपरीत, 20वीं सदी के किसान आंदोलन वैचारिक रूप से स्पष्ट, वर्ग-संघर्ष आधारित और संगठित राजनीतिक समूहों द्वारा संचालित थे। उदाहरणस्वरूप, ऑल इंडिया किसान सभा (AIKS) ने 'भूमि जोतने वाले की' जैसी वर्गीय चेतना को आंदोलन का केंद्र बनाया (Dhanagare, 1983; Shah, 2004)।

James C. Scott (1976) के अनुसार, "The moral economy of the peasant" तब सक्रिय होती है जब पारंपरिक सहिष्णुता की सीमा पार की जाती है। 19वीं सदी में आंदोलन इसी सहिष्णुता के क्षय पर आधारित थे। लेकिन 20वीं सदी में यह नैतिक आर्थिक व्यवस्था राजनीतिक अर्थव्यवस्था की वर्गीय चेतना में बदल गई।

4.2 स्थानीयता से राष्ट्रव्यापी विस्तार

19वीं सदी के आंदोलन क्षेत्रीय सीमाओं तक सीमित थे और अन्य आंदोलनों से प्रायः कटा हुआ अनुभव करते थे। उदाहरणतः, दक्कन के विद्रोह का प्रभाव महाराष्ट्र तक ही सीमित रहा, जबकि चंपारण या खेड़ा आंदोलन की कोई प्रतिक्रिया बंगाल या आंध्र में नहीं देखी गई।

20वीं सदी में, विशेष रूप से गांधीजी के नेतृत्व में, किसानों के मुद्दों को राष्ट्रीय आंदोलन में समाहित कर लिया गया। स्वतंत्रता संग्राम और किसान मुद्दे अब अलग नहीं रहे। तेलंगाना विद्रोह, तेभागा आंदोलन, बारदोली सत्याग्रह–ये सभी क्षेत्रीय होते हुए भी अखिल भारतीय विमर्श में स्थान पाने लगे (Desai, 1979; Oommen, 1990)। यह राष्ट्रीयता का विस्तार संगठनों की अंतःसंरचना में भी परिलक्षित हुआ, जैसे AIKS और कांग्रेस के रिश्तों में।

4.3 संगठनहीनता से संस्थागत ढांचे की ओर

19वीं सदी में आंदोलनों का कोई स्थायी संगठन या संस्थागत ढांचा नहीं था। कभी-कभी यह अचानक और स्वतःस्फूर्त रूप से शुरू होते और राज्य दमन के कारण टूट जाते। इसके उलट, 20वीं सदी में किसान संगठन अस्तित्व में आए, जिनमें नेतृत्व, पदाधिकारी, सदस्यता और वैचारिक घोषणापत्र स्पष्ट रूप से परिभाषित थे। AIKS, किसान मजदूर पार्टी, कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप्स–ये सभी संगठनात्मक स्थायित्व के प्रतीक बने (Shah, 2004)।

रिसोर्स मोबिलाइजेशन थ्योरी के अनुसार, जब आंदोलनों के पास स्थायी संसाधन, संगठनात्मक ढांचा और नेतृत्व होता है, तब उनकी प्रभावशीलता और दीर्घायु बढ़ जाती है (McCarthy & Zald, 1977)। यही परिवर्तन 20वीं सदी में भारतीय किसान आंदोलनों में स्पष्ट होता है।

4.4 पारंपरिक नेतृत्व से वैचारिक नेतृत्व तक

19वीं सदी में किसान विद्रोहों का नेतृत्व या तो क्षेत्रीय प्रतिष्ठित मुखियाओं, ग्रामीण पंडितों या धार्मिक व्यक्तियों द्वारा किया जाता था, जिनकी वैचारिक गहराई सीमित थी। यह नेतृत्व परिस्थिति-जन्य और व्यक्तिगत करिश्मे पर आधारित होता था। परंतु 20वीं सदी में नेतृत्व ने वैचारिक आधार ग्रहण किया–सरदार पटेल, सहजानंद सरस्वती, अच्युत पटवर्धन, पी. सुंदरैय्या, और राम मनोहर लोहिया जैसे नेता वर्गीय, समाजवादी और मार्क्सवादी दर्शन से प्रेरित थे (Dhanagare, 1983; Guha, 1983)। इससे आंदोलनों में दीर्घकालीन रणनीति, संरचनागत अनुशासन, और व्यापक लक्ष्य निर्धारण संभव हुआ।

4.5 सामाजिक समावेशन में विस्तार

19वीं सदी के आंदोलनों में जाति और लिंग के आधार पर सीमाएं स्पष्ट थीं। अधिकांश आंदोलन उच्च या मध्य जातियों तक सीमित रहे, और महिलाओं की भागीदारी न्यूनतम रही। इसके विपरीत, 20वीं सदी में आंदोलन अधिक समावेशी बने। बंगाल के तेभागा और आंध्र के तेलंगाना आंदोलन में दलितों और महिलाओं की भागीदारी उल्लेखनीय थी।

यह परिवर्तन नए सामाजिक आंदोलन (New Social Movement) सिद्धांत के अनुरूप है, जो परंपरागत वर्गीय संघर्ष से परे जाकर जाति, लिंग, पर्यावरण और सांस्कृतिक पहचान जैसे मुद्दों को शामिल करता है (Touraine, 1981)। भारत में किसान आंदोलनों का यह रूपांतरित संस्करण सामाजिक न्याय के व्यापक विमर्श का हिस्सा बना।

4.6 औपनिवेशिक प्रतिरोध से उत्तर-औपनिवेशिक मांग तक

19वीं सदी के आंदोलनों का मुख्य उद्देश्य औपनिवेशिक नीति से उत्पन्न संकटों का प्रतिरोध करना था–जैसे नील की खेती, कर वृद्धि, या ऋणजाल से मुक्ति। परंतु 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आंदोलन न केवल शोषण का विरोध कर रहे थे, बल्कि अधिकारों की मांग कर रहे थे–जैसे भूमि सुधार, ऋण माफी, कृषि मूल्य निर्धारण, और ग्रामीण संरचना में परिवर्तन। यह रूपांतरण **Rights-Based Approach** को दर्शाता है, जिसमें आंदोलनकारी पीड़ित नहीं, बल्कि अधिकार-धारक (rights-holder) के रूप में उभरते हैं (Shah, 2004)।

19वीं से 20वीं सदी के बीच किसान आंदोलनों की प्रकृति में जो परिवर्तन आया, वह भारत की सामाजिक संरचना, राजनीतिक चेतना और विचारधारा में गहराते परिवर्तनों का प्रतिबिंब है। प्रतिक्रियात्मक से वैचारिक, स्थानीय से राष्ट्रीय, असंगठित से संगठित और सीमित से समावेशी–इन सभी स्तरों पर यह रूपांतरण ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन आंदोलनों ने न केवल औपनिवेशिक सत्ता को चुनौती दी, बल्कि स्वतंत्र भारत की कृषि नीति और ग्रामीण राजनीति की दिशा भी तय की।

5. किसान आंदोलनों की उपलब्धियाँ और सीमाएँ

भारतीय किसान आंदोलनों का इतिहास केवल प्रतिरोध और विद्रोह का दस्तावेज नहीं है, बल्कि यह सामाजिक चेतना, राजनीतिक सशक्तिकरण, और नीतिगत हस्तक्षेप की प्रक्रिया का प्रतीक भी है। 19वीं और 20वीं सदी में इन आंदोलनों ने जिस प्रकार सामाजिक संरचनाओं, राजनीतिक विमर्श और कृषि नीतियों को प्रभावित किया, वह भारत के समकालीन लोकतंत्र और ग्रामीण विकास की नींव बन गया। किंतु इन आंदोलनों की सीमा भी स्पष्ट थी–विखंडन, नेतृत्व संघर्ष, जातिगत विभाजन और सीमित नीतिगत क्रियान्वयन। इस खंड में हम किसान आंदोलनों की प्रमुख उपलब्धियों और उनसे जुड़ी जमीनी सीमाओं का विश्लेषण करेंगे।

5.1 प्रमुख उपलब्धियाँ

5.1.1 ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधारों का आधार

20वीं सदी के किसान आंदोलनों, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और आंध्र प्रदेश में हुए जन-संघर्षों ने स्वतंत्र भारत में **ज़मींदारी उन्मूलन** जैसे ऐतिहासिक कदमों का मार्ग प्रशस्त किया। किसानों की मांगों ने 'जो जमीन जोते वही मालिक' जैसे नारों को लोकप्रियता दी, जिसके चलते भूमि सुधार अधिनियम अस्तित्व में आए। हालांकि इनका कार्यान्वयन सीमित रहा, फिर भी यह नीतिगत परिवर्तन किसान आंदोलनों की सबसे प्रमुख उपलब्धि माना जा सकता है (Dhanagare, 1983; Guha, 1983)।

5.1.2 राजनीतिक चेतना और वर्गीय लामबंदी

किसान आंदोलनों ने ग्रामीण समाज में **राजनीतिक चेतना** को प्रसारित किया। पहले जहां किसान सत्ता के सामने असहाय दिखते थे, अब उन्होंने अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठाना सीखा। इसने न केवल राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को मज़बूती दी, बल्कि स्वतंत्र भारत की राजनीति में किसानों को महत्वपूर्ण मतदाता और दबाव समूह में परिवर्तित किया (Desai, 1979)। यह वर्गीय लामबंदी राजनीति में किसान एजेंडा के संस्थापन का आधार बनी।

5.1.3 संगठनों का निर्माण और नेतृत्व विकास

किसान आंदोलनों के माध्यम से **ऑल इंडिया किसान सभा (AIKS)**, **भारतीय किसान यूनियन (BKU)** और क्षेत्रीय संगठनों जैसे संस्थानों का विकास हुआ, जिनके माध्यम से किसानों को एक संगठित मंच और नेतृत्व मिला। इन आंदोलनों ने सहजानंद सरस्वती, सरदार पटेल, चौधरी चरण सिंह, महेन्द्र सिंह टिकैत जैसे नेताओं को जन्म दिया, जिन्होंने किसान राजनीति को मुख्यधारा में पहुँचाया (Shah, 2004; Oommen, 1990)।

5.1.4 कृषि नीतियों पर प्रभाव

किसानों के दबाव ने सरकार को समय-समय पर न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP), ऋण माफी योजनाएं, खाद्य सब्सिडी, और हरित क्रांति जैसी नीतियाँ लागू करने पर विवश किया। हालांकि ये नीतियाँ सभी स्तरों पर समान प्रभावी नहीं थीं, फिर भी वे किसान आंदोलनों की राजनीतिक शक्ति का प्रमाण थीं (McCarthy & Zald, 1977)।

5.2 सीमाएँ और विफलताएँ

5.2.1 आंदोलनात्मक विखंडन और अस्थायी एकता

अनेक किसान आंदोलनों में वैचारिक और संगठनात्मक विखंडन देखा गया। कई बार जाति, क्षेत्र, या विचारधारा के आधार पर किसान संगठन टूटते रहे, जिससे आंदोलन की शक्ति कमजोर हुई। उदाहरणस्वरूप, AIKS में वामपंथियों और कांग्रेसियों के बीच संघर्ष ने इसे खंडित किया (Desai, 1979; Shah, 2004)। इसके अलावा, कई आंदोलनों की एकता केवल तात्कालिक मुद्दों पर आधारित रही, जो समाधान के बाद समाप्त हो गई।

5.2.2 जातिगत और वर्गीय विषमता

भारतीय ग्रामीण समाज में जाति एक सशक्त विभाजक तत्व रही है। कई आंदोलनों में उच्च जातियों के किसान तो सम्मिलित हुए, परंतु दलित और भूमिहीन मज़दूरों की भागीदारी सीमित रही। इससे आंदोलनों की समावेशिता प्रभावित हुई और वे समाज के सबसे वंचित वर्गों को सशक्त करने में सीमित रहे (Oommen, 1990; Scott, 1976)।

5.2.3 नेतृत्व का आत्मकेंद्रितरण और वैचारिक शिथिलता

बढ़ती लोकप्रियता और राजनीतिक सत्ताओं से संबंध ने कई किसान नेताओं को जनसेवा से हटाकर निजी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की ओर मोड़ दिया। इससे आंदोलन की वैचारिक प्रतिबद्धता कमजोर पड़ी और कई नेता परंपरागत राजनीति में विलीन हो गए। यह **co-optation** की वह प्रक्रिया थी, जिससे सामाजिक आंदोलनों की मूल ऊर्जा राजनीतिक सत्ताओं द्वारा अवशोषित हो जाती है (McAdam, Tarrow & Tilly, 2001)।

5.2.4 नीतिगत क्रियान्वयन की बाधाएँ

हालांकि कई किसान आंदोलन सरकार को नीति निर्माण के लिए विवश करने में सफल रहे, परंतु उनके कार्यान्वयन में **भ्रष्टाचार, नौकरशाही की उदासीनता**, और ज़मीनी हकीकत की उपेक्षा जैसी समस्याएं सामने आईं। भूमि सुधारों की घोषणाएं व्यापक थीं, परंतु उनका क्रियान्वयन सीमित रहा और अक्सर ताकतवर वर्गों के पक्ष में झुका रहा (Guha, 1983; Shah, 2004)।

5.3 समकालीन दृष्टि से मूल्यांकन

आज के भारत में किसान आंदोलनों की परंपरा जीवित है–चाहे वह 1988 का BKU आंदोलन हो या 2020–21 का तीन कृषि कानूनों के विरोध में दिल्ली सीमा पर चला ऐतिहासिक धरना। इन संघर्षों की जड़ें 19वीं और 20वीं सदी के आंदोलनों में हैं। इनका ऐतिहासिक मूल्यांकन हमें यह समझने में मदद करता है कि किसान राजनीति कैसे विकसित हुई और किन कारकों ने इसकी शक्ति और सीमाओं को गढ़ा।

किसान आंदोलनों ने भारत में न केवल सामाजिक और राजनीतिक चेतना को जन्म दिया, बल्कि उन्होंने कई नीतिगत पहलों की नींव रखी। परंतु, इनकी सीमाएं भी महत्वपूर्ण हैं–सामाजिक विखंडन, नेतृत्व का आत्मलाभीकरण, और नीतियों का सीमित कार्यान्वयन। फिर भी, इन आंदोलनों ने एक ऐसे लोकतांत्रिक विमर्श की आधारशिला रखी, जिसमें किसान केवल 'उपभोक्ता' या 'उत्पादक' नहीं, बल्कि एक 'नागरिक' और 'राजनीतिक शक्ति' के रूप में उभरा।

तुलनात्मक सारणी: किसान आंदोलनों की उपलब्धियाँ बनाम सीमाएँ

क्रम	उपलब्धियाँ	सीमाएँ
1	**ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधारों की नींव**: आंदोलनों ने ज़मींदारी प्रथा के अंत और भूमि अधिकारों पर ध्यान केंद्रित किया।	**अधूरे भूमि सुधार**: नीतियाँ बनीं लेकिन कार्यान्वयन कमजोर रहा; भूमिहीनों को लाभ कम मिला।
2	**राजनीतिक चेतना का विकास**: किसानों ने लोकतंत्र में भागीदारी और संगठित आवाज़ उठाना सीखा।	**आंदोलनात्मक विखंडन**: विचारधाराओं और नेतृत्व संघर्षों के कारण एकता भंग होती रही।
3	**सशक्त संगठनों की स्थापना**: AIKS, BKU जैसे स्थायी मंचों का निर्माण हुआ।	**संगठनों का सीमित समावेशन**: दलितों, महिलाओं और भूमिहीनों की भागीदारी सीमित रही।
4	**कृषि नीतियों पर प्रभाव**: MSP, ऋण माफी, हरित क्रांति जैसी योजनाओं पर किसान आंदोलन का दबाव रहा।	**नीतिगत अमल में बाधाएँ**: भ्रष्टाचार, नौकरशाही की निष्क्रियता, और यथास्थिति वाद ने नीति को कमजोर किया।
5	**नेतृत्व का उद्भव**: सहजानंद, सरदार पटेल, चरण सिंह जैसे नेताओं ने किसानों को राष्ट्रीय विमर्श में स्थान दिलाया।	**नेतृत्व का आत्मकेन्द्रीयकरण**: कई नेता स्वार्थ में फंसकर राजनीतिक सत्ता का हिस्सा बन गए।
6	**वर्गीय लामबंदी का निर्माण**: किसानों को एक वर्गीय शक्ति के रूप में पहचान मिली।	**जातिगत विभाजन**: जाति आधारित विभाजन ने आंदोलनों की व्यापकता को सीमित किया।
7	**संवैधानिक अधिकारों की चेतना**: आंदोलनों ने किसानों को अधिकार-आधारित दृष्टिकोण से लैस किया।	**सतही जागरूकता**: अधिकारों की जानकारी के बावजूद नीतियों की मांग में निरंतरता का अभाव।

6. निष्कर्ष

भारत में किसान आंदोलनों का इतिहास एक दीर्घकालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष का प्रतिबिंब है। 19वीं और 20वीं सदी के विभिन्न किसान विद्रोहों और संगठित आंदोलनों ने भारतीय लोकतंत्र की दिशा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह निष्कर्ष खंड न केवल आंदोलनों की ऐतिहासिक विकास-धारा को समेटता है, बल्कि उनके गहरे प्रभाव, अंतर्निहित चुनौतियों, और समकालीन प्रासंगिकता को भी रेखांकित करता है।

6.1 ऐतिहासिक निरंतरता और रूपांतरण

जैसा कि पूर्ववर्ती अध्यायों से स्पष्ट होता है, 19वीं सदी के किसान आंदोलन प्रतिक्रियात्मक, असंगठित और स्थानीय थे, जबकि 20वीं सदी में उन्होंने विचारधारा, संगठन और राष्ट्रीय विमर्श में अपनी जगह बनाई। संताल विद्रोह, नील आंदोलन, और दे ccan riots जैसे संघर्षों ने शोषण के प्रतिरोध की भूमि तैयार की, जिसे चंपारण, खेड़ा, बारदोली, तेलंगाना और तेभागा जैसे आंदोलनों ने राजनीतिक चेतना में बदल दिया (Guha, 1983; Dhanagare, 1983)।

यह रूपांतरण न केवल किसान आंदोलनों के स्वरूप में हुआ, बल्कि उनकी उद्देश्यपरकता, रणनीति और नेतृत्व की संरचना में भी एक व्यापक परिवर्तन दिखाई दिया। यह परिवर्तन भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ किसानों को लोकतांत्रिक और संवैधानिक विमर्श में स्थापित करने का भी कारण बना।

6.2 सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श में योगदान

किसान आंदोलनों ने ग्रामीण भारत की सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाया। इन्होंने जातिगत जकड़नों को चुनौती दी, दलित और महिला किसानों की भागीदारी को मंच प्रदान किया, और वर्गीय दृष्टिकोण को सामाजिक न्याय के साथ जोड़ा। खासकर 20वीं सदी के उत्तरार्ध में, किसानों की भागीदारी ने सामाजिक आंदोलनों की वैचारिक सीमा को विस्तारित किया (Shah, 2004; Oommen, 1990)।

हालांकि, यह भी स्पष्ट है कि जातिगत विखंडन और आंतरिक संघर्षों ने आंदोलन की गति को कई बार बाधित किया। फिर भी, सामाजिक समावेश के प्रयासों ने किसानों को मात्र उत्पादक नहीं, बल्कि नागरिक और राजनीतिक कर्ता के रूप में पुनर्परिभाषित किया।

6.3 राजनीतिक सशक्तिकरण और नीतिगत हस्तक्षेप

किसान आंदोलनों ने राजनीतिक मंच पर किसानों के मुद्दों को स्थान दिलाया। स्वतंत्रता आंदोलन में किसानों की सहभागिता और स्वतंत्र भारत में उनके द्वारा निर्मित दबाव ने कृषि नीतियों, भूमि सुधारों, और सार्वजनिक वितरण प्रणाली जैसे पहलुओं पर सरकार को हस्तक्षेप के लिए बाध्य किया। यह दर्शाता है कि किसान आंदोलन सिर्फ आर्थिक असंतोष नहीं, बल्कि **नीति निर्माण के लोकतांत्रिक दवाब** का स्रोत भी बन चुके थे (Desai, 1979; McAdam et al., 2001)।

6.4 सीमाएं और सीख

हालाँकि इन आंदोलनों की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण थीं, परंतु उन्हें संगठित दीर्घकालिक संघर्ष में बदलने की प्रक्रिया में कई बाधाएँ सामने आईं—जातीय विभाजन, नेतृत्व का राजनीतिक सह-व्यवहार (co-optation), और वैचारिक अनिश्चितता। इसके बावजूद, यह संघर्ष भारतीय लोकतंत्र के विकास में एक स्थायी स्तंभ के रूप में उभरे। यह भी स्पष्ट है कि आंदोलनों की शक्ति केवल मांग करने में नहीं, बल्कि समाज की सोच और सत्ता की जवाबदेही को बदलने में निहित होती है।

6.5 समकालीन प्रासंगिकता

21वीं सदी के भारत में भी किसान आंदोलन प्रासंगिक हैं। 2020–21 के कृषि कानूनों के विरोध में दिल्ली की सीमाओं पर लाखों किसानों का धरना इस ऐतिहासिक परंपरा का ही आधुनिक संस्करण है। यह आंदोलन न केवल कृषि नीति का प्रश्न था, बल्कि लोकतंत्र में **नागरिकता, सहभागिता और गरिमा** का भी मुद्दा था। यह ऐतिहासिक घटनाक्रम यह दर्शाता है कि किसान आंदोलनों की जड़ें गहरी हैं और उनका भविष्य आज भी संघर्ष और संभावना से भरा है।

6.6 समेकित निष्कर्ष

भारत में किसान आंदोलनों का इतिहास केवल भूतकाल की घटना नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य की दिशा में चलने वाली चेतना है। इन आंदोलनों ने न केवल ग्रामीण भारत की समस्याओं को राष्ट्रीय विमर्श का विषय बनाया, बल्कि भारतीय लोकतंत्र को जमीनी सच्चाइयों से जोड़ने का कार्य भी किया। यदि इन आंदोलनों से कोई स्थायी सीख मिलती है, तो वह यह है कि जब तक सामाजिक न्याय, भूमि की सुरक्षा, और सम्मानजनक जीवन का सपना अधूरा है–किसान आंदोलनों की आवश्यकता बनी रहेगी।

संदर्भ ग्रंथ:

1. धनगरे, डी. एन. (1983). *Peasant Movements in India: 1920–1950*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. गुहा, रामचंद्र. (1983). *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. शाह, घनश्याम. (2004). *Social Movements in India: A Review of Literature*. सेज पब्लिकेशन्स।
4. ऊमन्, टी. के. (1990). *Protest and Change: Studies in Social Movements*. सेज पब्लिकेशन्स।
5. स्कॉट, जेम्स सी. (1976). *The Moral Economy of the Peasant: Rebellion and Subsistence in Southeast Asia*. येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. मैकार्थी, जे. डी., एवं ज़ाल्ड, एम. एन. (1977). Resource Mobilization and Social Movements: A Partial Theory. *American Journal of Sociology, 82*(6), 1212–1241.
7. मैकएडम, डी., टेरो, एस., एवं टिली, सी. (2001). *Dynamics of Contention*. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
8. टूरैन, ए. (1981). *The Voice and the Eye: An Analysis of Social Movements*. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
10. सिंह, रणजीत. (2004). *भारत में किसान आंदोलन*. राजकमल प्रकाशन।
11. मिश्र, प्रभात. (2010). *भारतीय किसान आंदोलनों का इतिहास*. वाणी प्रकाशन।
12. यादव, चंद्रभूषण. (2002). *आधुनिक भारत में कृषक संघर्ष*. साहित्य भवन प्रकाशन।
13. उपाध्याय, राकेश. (1997). *किसान चेतना और आंदोलन की धारा*. ग्रंथ शिल्पी।
14. शर्मा, हरिकृष्ण. (2005). *भारतीय कृषक आंदोलनों का समाजशास्त्र*. राधाकृष्ण प्रकाशन।
15. त्रिपाठी, रामगोविंद. (2012). *किसान संघर्ष: इतिहास और विश्लेषण*. हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
16. सहाय, सुरेन्द्र. (2001). *किसान और भारतीय राजनीति*. लोकभारती प्रकाशन।